

Original Article

सुपौल ज़िले में दिव्यांगजनों के जीवन अनुभव, सामाजिक संरचनाएँ और सरकारी-गैर सरकारी हस्तक्षेप: एक आलोचनात्मक अध्ययन

अनिल कुमार

समाजशास्त्र विभाग

Manuscript ID:

yrj-140318

ISSN: 2277-7911

Impact Factor - 5.958

Volume 14

Issue 3

July-August-Sept.- 2025

Pp. 154 - 166

Submitted: 27 July 2025

Revised: 8 Aug 2025

Accepted: 20 Aug 2025

Published: 10 Sept. 2025

Corresponding Author:

अनिल कुमार

Quick Response Code:



Web. <https://yra.ijaar.co.in/>



DOI:

10.5281/zenodo.20272618

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.20272618>



Creative Commons



सारांश:

यह अध्ययन बिहार के सुपौल ज़िले में दिव्यांगजनों के जीवन अनुभवों, सामाजिक संरचनाओं तथा सरकारी-गैर सरकारी हस्तक्षेपों की भूमिका का विश्लेषण करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि दिव्यांगता केवल व्यक्तिगत शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक संरचनाओं द्वारा निर्मित अनुभव है। सुपौल जैसे सीमांत, बाढ़-प्रभावित और संसाधन-वंचित क्षेत्र में दिव्यांगजन बहुस्तरीय बहिष्करण का सामना करते हैं, जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, परिवहन तथा सामाजिक सहभागिता तक सीमित पहुँच प्रमुख है। यह शोध गुणात्मक अनुसंधान पद्धति पर आधारित है, जिसमें 40 प्रतिभागियों—25 दिव्यांग व्यक्ति, 8 परिवार सदस्य, 4 सरकारी अधिकारी तथा 3 गैर-सरकारी संगठन प्रतिनिधियों—से अर्ध-संरचित साक्षात्कार किए गए। इसके अतिरिक्त प्रकरण-अध्ययन, दस्तावेज़ विश्लेषण और क्षेत्रीय अवलोकन का उपयोग किया गया। अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम 2016, यूडीआईडी योजना और अन्य सरकारी प्रावधानों के बावजूद जमीनी स्तर पर पहुँच, जागरूकता और क्रियान्वयन में गंभीर अंतर मौजूद है। सामाजिक कलंक, प्रशासनिक जटिलताएँ, आर्थिक निर्भरता तथा पितृसत्तात्मक संरचनाएँ दिव्यांगजनों, विशेषकर महिलाओं, की वंचना को और गहरा करती हैं। अध्ययन का निष्कर्ष है कि दिव्यांगता को चिकित्सीय प्रतिमान से नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिमान, क्षमता दृष्टिकोण और अधिकार-आधारित ढाँचे के माध्यम से समझना अधिक सार्थक है। दिव्यांगजनों की मुख्य समस्या उनकी अक्षमता नहीं, बल्कि असुगम और बहिष्कारी सामाजिक व्यवस्था है। यह शोध समावेशी, गरिमा-केंद्रित और सहभागितापरक नीति निर्माण की आवश्यकता पर बल देता है।

मुख्य शब्द: दिव्यांगजन, सुपौल ज़िला, सामाजिक बहिष्करण, सामाजिक प्रतिमान, क्षमता दृष्टिकोण, समावेशन नीति

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

How to cite this article:

अनिल कुमार (2025). सुपौल ज़िले में दिव्यांगजनों के जीवन अनुभव, सामाजिक संरचनाएँ और सरकारी-गैर सरकारी हस्तक्षेप: एक आलोचनात्मक अध्ययन. Young researcher, 14(3), 154 - 166.

<https://doi.org/10.5281/zenodo.20272618>

परिचय:

भारत की जनगणना (2011) के अनुसार देश में कुल 2.68 करोड़ दिव्यांगजन थे, जो कुल जनसंख्या का लगभग 2.21 प्रतिशत है (भारत सरकार, 2011)¹ इनमें लगभग 1.50 करोड़ पुरुष एवं 1.18 करोड़ महिलाएँ सम्मिलित थीं। बिहार में 2011 की जनगणना के अनुसार दिव्यांगजनों की संख्या 23.31 लाख थी, जिसमें 13.43 लाख पुरुष और 9.87 लाख महिलाएँ शामिल हैं (भारत सरकार, 2011)² सुपौल ज़िले की कुल जनसंख्या (लगभग 22.29 लाख) को ध्यान में रखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि ज़िले में लगभग पचास हजार के आसपास दिव्यांगजन निवास करते हैं। यह आँकड़ा इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सुपौल जैसे सीमांत जिलों में दिव्यांगजन एक महत्वपूर्ण, किंतु सामाजिक रूप से प्रायः अदृश्य समूह का निर्माण करते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से सुपौल ज़िला बिहार के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित है और कोसी नदी के मैदानी क्षेत्र का हिस्सा है। यह क्षेत्र बार-बार आने वाली बाढ़, सीमांत कृषि, उच्च गरीबी दर तथा कमजोर आधारभूत संरचना के लिए जाना जाता है³ नेपाल सीमा से सटे इस ज़िले में प्रशासनिक पहुँच, स्वास्थ्य सेवाएँ, शिक्षा संस्थान और रोजगार के अवसर

अपेक्षाकृत सीमित हैं। ऐसी परिस्थितियों में दिव्यांगजनों की सामाजिक स्थिति और अधिक जटिल हो जाती है, क्योंकि प्राकृतिक आपदाएँ, निर्धनता और अविकसित अवसंरचना उनके लिए बहुस्तरीय असुरक्षा उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार, सुपौल में दिव्यांगता केवल व्यक्तिगत शारीरिक अवस्था नहीं, बल्कि एक संरचनात्मक सामाजिक अनुभव बन जाती है।

नीतिगत स्तर पर भारत सरकार ने दिव्यांगजनों के अधिकारों को सुदृढ़ करने के लिए *दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम, 2016* लागू किया, जिसमें दिव्यांगता को दीर्घकालिक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या संवेदनात्मक हानि के रूप में परिभाषित किया गया है (भारत सरकार, 2016)⁴ इस अधिनियम के अंतर्गत मान्यता प्राप्त दिव्यांगताओं की संख्या 7 से बढ़ाकर 21 की गई तथा शिक्षा और सरकारी रोजगार में आरक्षण 4 प्रतिशत तक बढ़ाया गया। वर्ष 2015 के बाद 'दिव्यांगजन' शब्द का प्रयोग स्वयं में एक वैचारिक परिवर्तन का द्योतक है, जो कल्याण-आधारित दृष्टिकोण से हटकर अधिकार-आधारित दृष्टिकोण को रेखांकित करता है (संयुक्त राष्ट्र, 2006)⁵ इन नीतिगत परिवर्तनों का प्रभाव सुपौल जैसे जिलों तक पहुँचा है, यद्यपि जमीनी स्तर पर इनका क्रियान्वयन अभी भी असमान है।

¹ भारत सरकार, *जनगणना 2011: दिव्यांगजन संबंधी आँकड़े* (नई दिल्ली: भारत के महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त कार्यालय, 2011)।

² वही।

³ बिहार सरकार, *सुपौल ज़िला सांख्यिकी पुस्तिका* (पटना: योजना एवं विकास विभाग, 2021)।

⁴ भारत सरकार, *दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम, 2016* (नई दिल्ली: भारत सरकार प्रकाशन विभाग, 2016)।

⁵ संयुक्त राष्ट्र, *दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों पर अभिसमय* (न्यूयॉर्क: संयुक्त राष्ट्र संगठन, 2006)।

दिव्यांगता को समझने के पारंपरिक ढाँचों में चिकित्सीय प्रतिमान लंबे समय तक प्रमुख रहा है। यह प्रतिमान दिव्यांगता को व्यक्ति की शारीरिक अथवा मानसिक कमी के रूप में देखता है तथा समाधान को उपचार, पुनर्वास और सुधार तक सीमित कर देता है (ओलिवर, 1990)। इस दृष्टिकोण में सामाजिक संरचनाओं, संस्थागत अवरोधों और नीतिगत असमानताओं की भूमिका लगभग अदृश्य हो जाती है। भारत जैसे समाजों में, विशेषकर ग्रामीण और सीमांत क्षेत्रों में, इस प्रतिमान के प्रभाव के कारण दिव्यांगजनों को 'देखभाल के पात्र' या 'कल्याण के लाभार्थी' के रूप में देखा गया, न कि अधिकारयुक्त सामाजिक नागरिक के रूप में (मेहरोत्रा, 2011)। सुपौल जैसे जिलों में यह दृष्टिकोण आज भी प्रशासनिक व्यवहार और सामाजिक मानसिकता में दिखाई देता है।

इसके विपरीत, सामाजिक प्रतिमान यह मानता है कि दिव्यांगता व्यक्ति की कमी नहीं, बल्कि समाज द्वारा निर्मित अवरोधों का परिणाम है (ओलिवर, 1996)। असुगम सार्वजनिक भवन, अनुपयुक्त परिवहन व्यवस्था, सूचना तक सीमित पहुँच और भेदभावपूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण ही दिव्यांगता को सामाजिक समस्या में परिवर्तित करते हैं। सुपौल जिले में सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों और स्वास्थ्य केंद्रों की भौतिक संरचना, डिजिटल सेवाओं तक सीमित पहुँच तथा प्रशासनिक जटिलताएँ इस प्रतिमान की प्रासंगिकता को स्पष्ट करती हैं। यहाँ दिव्यांगता निर्धनता, ग्रामीणता और कमजोर शासन संरचनाओं से गहराई से जुड़ जाती है।

इस अध्ययन की सैद्धांतिक समझ सामाजिक बहिष्करण की अवधारणा से भी प्रेरित है, जो यह स्पष्ट करती है कि दिव्यांगजन किस प्रकार शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और राजनीतिक भागीदारी से क्रमिक रूप से बाहर कर दिए जाते हैं (सेन, 2000)। बिहार जैसे राज्यों में, जहाँ जाति, वर्ग और क्षेत्रीय पिछड़ापन पहले से विद्यमान है, दिव्यांगता इन असमानताओं को और गहरा कर देती है (कबीर, 2000)। सुपौल जिले में दिव्यांगजन प्रायः असंगठित श्रम, पारिवारिक निर्भरता और सामाजिक अदृश्यता तक सीमित रह जाते हैं, जिससे उनकी सामाजिक पूँजी और सामूहिक आवाज कमजोर बनी रहती है।

अंततः, यह अध्ययन अधिकार-आधारित दृष्टिकोण तथा क्षमता दृष्टिकोण से प्रेरणा लेता है (सेन, 1999; संयुक्त राष्ट्र, 2006)। यह दृष्टिकोण विकास को केवल योजनाओं या संसाधनों की उपलब्धता से नहीं, बल्कि दिव्यांगजनों की वास्तविक क्षमताओं, विकल्पों और जीवन-अनुभवों के विस्तार से जोड़कर देखता है। सुपौल जिले के संदर्भ में यह प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या सरकारी और गैर-सरकारी हस्तक्षेप वास्तव में दिव्यांगजनों की क्षमताओं का विस्तार कर पा रहे हैं, या वे केवल कागजी उपलब्धियों तक सीमित रह गए हैं। इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत अध्ययन सुपौल जिले को एक प्रकरण-अध्ययन के रूप में लेकर दिव्यांगजनों के जीवन अनुभवों, सामाजिक संरचनाओं और संस्थागत हस्तक्षेपों का विश्लेषण करता है।

साहित्य समीक्षा:

भारत में दिव्यांगता संबंधी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा जनगणना 2011 तथा उसके आधार पर तैयार सांख्यिकीय और नीतिगत विश्लेषणों पर आधारित है। जनगणना 2011 ने पहली बार दिव्यांगता को व्यापक सामाजिक संदर्भों—जैसे शिक्षा, रोजगार, वैवाहिक स्थिति और सामाजिक भागीदारी—से जोड़कर देखने की दिशा प्रदान की। भारत सरकार के सांख्यिकी एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय (MOSPI) की रिपोर्ट यह स्पष्ट करती है कि देश में अधिकांश दिव्यांगजन ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं, जहाँ उनकी साक्षरता दर, रोजगार भागीदारी और सार्वजनिक सेवाओं तक पहुँच शहरी क्षेत्रों की तुलना में कम है। विशेष रूप से महिला दिव्यांगजनों की स्थिति अधिक असुरक्षित पाई गई है, क्योंकि वे लिंग और दिव्यांगता दोनों स्तरों पर बहिष्करण का सामना करती हैं (भारत सरकार, 2016)। यह साहित्य इस बात को रेखांकित करता है कि दिव्यांगता केवल चिकित्सीय अथवा पुनर्वास का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और समान अवसरों का प्रश्न है।

नीतिगत स्तर पर *दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम, 2016* ने भारत में दिव्यांगता विमर्श को अधिकार-आधारित ढाँचे में स्थापित किया। इस अधिनियम ने 21 प्रकार की दिव्यांगताओं को मान्यता देते हुए शिक्षा, रोजगार, सार्वजनिक जीवन और अवसंरचना में समान अवसरों तथा गैर-भेदभाव को कानूनी मान्यता प्रदान की। विद्वानों ने इसे दया-आधारित दृष्टिकोण से अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की ओर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन माना है, यद्यपि इसके

प्रभावी क्रियान्वयन पर अनेक प्रश्न बने हुए हैं। राष्ट्रीय स्तर के साहित्य का एक प्रमुख निष्कर्ष यह है कि कानूनी प्रावधानों और वास्तविक सामाजिक पहुँच के बीच अब भी गंभीर अंतर बना हुआ है (भारत सरकार, 2016)।

बिहार पर उपलब्ध राज्य-स्तरीय अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि यहाँ दिव्यांगजन राष्ट्रीय औसत की तुलना में अधिक वंचित स्थिति में हैं। बिहार राज्य दिव्यांगजन आयुक्त की *सिचुएशन असेसमेंट रिपोर्ट* के अनुसार राज्य में दिव्यांगजनों के बीच शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के अवसर अत्यंत असमान हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता की दर अधिक है तथा दिव्यांग महिलाओं की स्थिति पुरुषों की तुलना में कहीं अधिक कमजोर है। रिपोर्ट यह भी दर्शाती है कि शिक्षा का स्तर बढ़ने पर रोजगार की संभावना बढ़ती है, लेकिन यह वृद्धि महिलाओं के लिए सीमित रहती है। इस प्रकार बिहार-विशेष साहित्य दिव्यांगता को लैंगिक असमानता के साथ जोड़कर देखने की आवश्यकता को सामने लाता है।

इसी रिपोर्ट का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि बिहार के अधिकांश दिव्यांगजन अब भी कृषि, दिहाड़ी मजदूरी और मौसमी कार्यों में संलग्न हैं, जबकि औपचारिक एवं सुरक्षित रोजगार तक उनकी पहुँच सीमित है। इसके अतिरिक्त, प्रमाणपत्र, पेंशन, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं और सरकारी सेवाओं तक पहुँच में भी गंभीर बाधाएँ हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बिहार में दिव्यांगता केवल व्यक्तिगत अक्षमता नहीं, बल्कि शिक्षा व्यवस्था, श्रम-बाजार और

प्रशासनिक संरचनाओं में मौजूद असमानताओं का परिणाम है।

बिहार संबंधी साहित्य में दिव्यांगता और गरीबी का संबंध अत्यंत स्पष्ट रूप से सामने आता है। राज्य स्तरीय अध्ययनों के अनुसार ग्रामीण बिहार में दिव्यांगजनों का एक बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करता है। यदि अंतरराष्ट्रीय गरीबी मानकों के आधार पर मूल्यांकन किया जाए, तो यह अनुपात और अधिक बढ़ जाता है। रिपोर्टें यह भी दर्शाती हैं कि जिला-स्तर पर पहुँच (Accessibility) और रोजगार के बीच सीधा संबंध है—जहाँ सार्वजनिक भवन, परिवहन और सेवाएँ अधिक सुलभ हैं, वहाँ दिव्यांगजनों की आर्थिक भागीदारी अपेक्षाकृत अधिक है। यह निष्कर्ष दिव्यांगता को व्यक्ति की समस्या न मानकर सार्वजनिक अवसंरचना और संस्थागत संरचना की समस्या के रूप में स्थापित करता है।

यूनिसेफ की भारत-आधारित समावेशी शिक्षा रिपोर्ट भी इस तथ्य को रेखांकित करती है कि 2010-2020 के दौरान समावेशी शिक्षा के लिए अनेक नीतिगत प्रयास हुए, किंतु विद्यालय-स्तर पर भौतिक पहुँच, प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी, और शिक्षण संसाधनों का अभाव अब भी बड़ी चुनौती बना हुआ है। बिहार जैसे राज्यों में ग्रामीण-शहरी विभाजन के कारण समावेशी शिक्षा का लाभ समान रूप से नहीं पहुँच पाता। इससे स्पष्ट है कि दिव्यांगजनों की शिक्षा और आजीविका के अवसर भौगोलिक और सामाजिक संरचनाओं से गहराई से प्रभावित होते हैं।

भारत में दिव्यांगता अध्ययन (Disability Studies) एक उभरता हुआ अकादमिक क्षेत्र है, जिसकी पहचान जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान जैसे संस्थानों द्वारा विकसित शोध कार्यों से मजबूत हुई है। इस साहित्य ने दिव्यांगता को चिकित्सा-केन्द्रित विमर्श से हटाकर सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श के रूप में पढ़ना प्रारंभ किया। इस क्षेत्र का प्रमुख तर्क यह है कि दिव्यांगता कोई पृथक श्रेणी नहीं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं द्वारा निर्मित संबंधात्मक स्थिति है। इस दृष्टिकोण ने समाजशास्त्र, शिक्षा, विधि, जेंडर स्टडीज़ और विकास अध्ययन को एक साझा विमर्श में जोड़ा है।

माइकल ओलिवर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक प्रतिमान (Social Model) ने इस क्षेत्र को नई दिशा दी। उनके अनुसार समस्या व्यक्ति की शारीरिक स्थिति में नहीं, बल्कि समाज द्वारा निर्मित बाधाओं—जैसे असुगम स्थान, भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण और अपवर्जक संस्थानों—में है (ओलिवर, 1996)। इसी के साथ अमर्त्य सेन का क्षमता दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण हो जाता है, जो यह रेखांकित करता है कि संसाधनों की उपलब्धता तभी सार्थक है जब वे व्यक्ति की वास्तविक क्षमताओं और स्वतंत्रताओं का विस्तार करें (सेन, 1999)। समकालीन साहित्य मानता है कि सामाजिक प्रतिमान और क्षमता दृष्टिकोण को साथ पढ़ने से दिव्यांगता का अधिक समग्र विश्लेषण संभव होता है।

मौजूदा साहित्य का एक बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय या राज्य-स्तर तक सीमित है, जबकि जिला-स्तर के

सूक्ष्म और नृवंशात्मक अध्ययन अभी भी अत्यंत सीमित हैं। उपलब्ध शोध यह संकेत देते हैं कि बिहार के भीतर भी जिला-स्तरीय भिन्नताएँ अत्यधिक तीव्र हैं—विशेषकर पहुँच, गरीबी, रोजगार और शिक्षा के क्षेत्रों में। सुपौल जैसे कोसी-प्रभावित, नेपाल सीमा से सटे और बाढ़-प्रवण जिले में दिव्यांगता का अनुभव विशिष्ट सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों से निर्मित होता है। फिर भी, सुपौल के दिव्यांगजनों के जीवन अनुभवों, सामाजिक संरचनाओं और संस्थागत हस्तक्षेपों पर पर्याप्त जमीनी अध्ययन उपलब्ध नहीं हैं। यही इस अध्ययन का प्रमुख शोध-अंतर है।

अनुसंधान पद्धति:

यह अध्ययन गुणात्मक अनुसंधान पद्धति पर आधारित है, जिसका उद्देश्य सुपौल जिले में दिव्यांगजनों के जीवन अनुभवों, सामाजिक संरचनाओं तथा सरकारी-गैर सरकारी हस्तक्षेपों की जमीनी वास्तविकताओं को समझना है। चूँकि यह शोध दिव्यांगता को केवल चिकित्सीय अथवा प्रशासनिक श्रेणी के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक अनुभव, संरचनात्मक असमानता और संस्थागत पहुँच के संदर्भ में विश्लेषित करता है, इसलिए गुणात्मक पद्धति इस अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मानी गई। डेनज़िन और लिंकन (2011) के अनुसार गुणात्मक शोध उन सामाजिक अनुभवों को समझने का माध्यम है, जिन्हें मात्र संख्यात्मक आँकड़ों द्वारा पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस अध्ययन में भी दिव्यांगजनों के अनुभव, संघर्ष, निर्भरता, आत्मनिर्णय और सामाजिक भागीदारी जैसे

आयामों को उनके अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है।

सुपौल जिले का चयन उद्देश्यपूर्ण नमूना चयन पद्धति के आधार पर किया गया है। यह जिला बिहार के कोसी क्षेत्र में स्थित है, जो बाढ़, सीमांत कृषि, गरीबी, प्रवासन तथा कमजोर आधारभूत संरचना जैसी समस्याओं से प्रभावित है। नेपाल सीमा से सटे होने के कारण यहाँ प्रशासनिक पहुँच और सेवा वितरण में अतिरिक्त चुनौतियाँ उपस्थित हैं। सुपौल की यह भौगोलिक-सामाजिक स्थिति इसे दिव्यांगता अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण बनाती है, क्योंकि यहाँ दिव्यांगता का अनुभव केवल शारीरिक अक्षमता तक सीमित नहीं, बल्कि प्राकृतिक आपदा, संसाधनहीनता और संस्थागत अनुपलब्धता से गहराई से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, सुपौल एक प्रतिनिधि सीमांत जिले के रूप में इस अध्ययन के लिए उपयुक्त शोध क्षेत्र सिद्ध होता है।

इस अध्ययन में उद्देश्यपूर्ण नमूना चयन तथा श्रृंखलाबद्ध नमूना चयन दोनों तकनीकों का उपयोग किया गया। प्रारंभिक स्तर पर ऐसे प्रतिभागियों की पहचान की गई जो विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं—दृष्टि, श्रवण, चलन तथा बौद्धिक—का प्रतिनिधित्व करते हों। कुल 40 प्रतिभागियों को अध्ययन में सम्मिलित किया गया, जिनमें 25 दिव्यांग व्यक्ति, 8 परिवार सदस्य, 4 सरकारी अधिकारी तथा 3 गैर-सरकारी संगठन प्रतिनिधि शामिल थे। श्रृंखलाबद्ध नमूना चयन के माध्यम से उन प्रतिभागियों तक पहुँचना संभव हुआ जो औपचारिक अभिलेखों में दर्ज नहीं थे, किंतु स्थानीय समुदाय में पहचाने जाते थे।

इस तकनीक ने हाशिये पर स्थित और छिपे हुए प्रतिभागियों तक पहुँच सुनिश्चित की।

आँकड़ा-संग्रह की विधियाँ:

(क) अर्ध-संरचित साक्षात्कार:

मुख्य आँकड़ा-संग्रह उपकरण अर्ध-संरचित साक्षात्कार रहे। प्रत्येक साक्षात्कार लगभग 40 से 60 मिनट का था, जिसमें प्रतिभागियों से उनके जीवन अनुभव, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, सामाजिक व्यवहार, सरकारी योजनाओं तक पहुँच तथा संस्थागत अनुभवों के बारे में प्रश्न पूछे गए। कवल (1996) के अनुसार अर्ध-संरचित साक्षात्कार प्रतिभागियों को अपने अनुभव स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अवसर देते हैं, जिससे गहन और समृद्ध विवरण प्राप्त होते हैं।

(ख) प्रकरण-अध्ययन पद्धति:

तीन विस्तृत प्रकरण-अध्ययन तैयार किए गए, जिनमें विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं वाले व्यक्तियों के जीवन अनुभवों का विश्लेषण किया गया। इन प्रकरण-अध्ययनों ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक संरचना, परिवार, निर्धनता और प्रशासनिक प्रक्रियाएँ मिलकर दिव्यांगता के अनुभव को किस प्रकार आकार देती हैं।

(ग) दस्तावेज़ विश्लेषण:

सरकारी दस्तावेज़, जनगणना 2011, बिहार राज्य दिव्यांगजन आयोग की रिपोर्टें, जिला प्रशासन के अभिलेख, यूडीआईडी पोर्टल आँकड़े तथा गैर-सरकारी संगठनों की रिपोर्टों का विश्लेषण किया गया। बोवेन (2009) के अनुसार दस्तावेज़ विश्लेषण

गुणात्मक अनुसंधान में संदर्भ निर्माण का अत्यंत उपयोगी साधन है। इस अध्ययन में इसे द्वितीयक प्रमाणीकरण स्रोत के रूप में प्रयुक्त किया गया।

(घ) क्षेत्रीय अवलोकन:

क्षेत्र भ्रमण के दौरान विद्यालयों, सरकारी कार्यालयों, पंचायत भवनों, स्वास्थ्य केंद्रों तथा सार्वजनिक स्थलों का सहभागी अवलोकन किया गया। इससे रैम्प की अनुपस्थिति, सूचना पट्टों की कमी तथा परिवहन बाधाओं जैसी पहुँच संबंधी समस्याओं का प्रत्यक्ष अध्ययन संभव हुआ।

साक्षात्कार अनुसूची:

साक्षात्कार अनुसूची पाँच प्रमुख विषयों पर आधारित थी:

1. व्यक्तिगत पृष्ठभूमि और दिव्यांगता का प्रकार
2. शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच
3. सरकारी योजनाओं का अनुभव
4. गैर-सरकारी संगठन तथा सामुदायिक सहायता
5. सामाजिक भेदभाव, सम्मान और भागीदारी

यह अनुसूची लचीली रखी गई ताकि स्थानीय परिस्थितियों और प्रतिभागियों की अभिव्यक्ति के अनुसार प्रश्नों में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

संग्रहित आँकड़ों का विश्लेषण विषयगत विश्लेषण पद्धति द्वारा किया गया (ब्राउन एवं क्लार्क, 2006)। साक्षात्कार प्रतिलिपियों को पढ़कर बार-बार उभरने वाले विषयों की पहचान की गई, जैसे—

- संस्थागत पहुँच की बाधाएँ

- सामाजिक कलंक और अदृश्यता
- परिवार पर निर्भरता
- योजनाओं की जानकारी का अभाव
- गैर-सरकारी बनाम सरकारी हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता

इन विषयों की व्याख्या सामाजिक बहिष्करण, क्षमता दृष्टिकोण तथा सामाजिक दिव्यांगता प्रतिमान के सैद्धांतिक ढाँचे के भीतर की गई। इस विश्लेषण से यह समझने में सहायता मिली कि संरचनात्मक बाधाएँ किस प्रकार व्यक्तिगत अनुभवों को प्रभावित करती हैं।

विश्लेषण:

सुपौल ज़िले में किए गए क्षेत्रीय अध्ययन, साक्षात्कारों, प्रकरण-अध्ययनों तथा दस्तावेज़ विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि दिव्यांगजनों का जीवन अनुभव बहुस्तरीय सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत संरचनाओं से निर्मित होता है। यहाँ दिव्यांगता केवल शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति नहीं, बल्कि सामाजिक बहिष्करण, प्रशासनिक जटिलताओं, सीमित संसाधनों और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम है। बिहार में कुल 23.31 लाख दिव्यांगजन हैं, जिनमें लगभग 75 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं (भारत सरकार, 2011)। सुपौल जैसे सीमांत और बाढ़-प्रभावित ज़िले में यह स्थिति और अधिक जटिल हो जाती है, क्योंकि यहाँ गरीबी, प्राकृतिक आपदा, अविकसित आधारभूत संरचना तथा प्रशासनिक दूरी दिव्यांगजनों के दैनिक जीवन को लगातार प्रभावित

करती है। इस अध्ययन में यह स्पष्ट रूप से सामने आया कि दिव्यांगजन न केवल संसाधनों की कमी से जूझते हैं, बल्कि सामाजिक मान्यताओं और संस्थागत व्यवस्थाओं द्वारा निर्मित अदृश्य बाधाओं से भी संघर्ष करते हैं।

अध्ययन का एक प्रमुख निष्कर्ष सामाजिक कलंक और अदृश्यता से जुड़ा है। 25 प्रतिभागियों में से 18 ने बताया कि परिवार और समुदाय में उन्हें सहानुभूति तो मिलती है, पर सम्मानजनक सामाजिक भागीदारी नहीं। लगभग 72 प्रतिशत प्रतिभागियों ने स्वीकार किया कि पंचायत बैठकों, विवाह समारोहों, धार्मिक आयोजनों और स्थानीय निर्णय प्रक्रियाओं में उन्हें नियमित रूप से शामिल नहीं किया जाता। गोफमैन (1963) के कलंक सिद्धांत के अनुसार समाज कुछ पहचानों को “कलंकित पहचान” में बदल देता है, जिससे व्यक्ति सामाजिक रूप से अदृश्य हो जाता है। सुपौल में यह स्थिति विशेषकर महिलाओं के संदर्भ में अधिक गंभीर है। एक 19 वर्षीय चलन-बाधित युवती का कथन—“घर वाले कहते हैं बाहर जाओगी तो लोग घूरेंगे, इसलिए ज़रूरी काम के बिना बाहर मत निकलो”—यह दर्शाता है कि दिव्यांगता यहाँ केवल शारीरिक सीमा नहीं, बल्कि सामाजिक गतिशीलता पर नियंत्रण का माध्यम बन जाती है। इस प्रकार सामाजिक स्वीकृति का अभाव दिव्यांगजनों को सामुदायिक जीवन से क्रमिक रूप से बाहर कर देता है। शिक्षा के क्षेत्र में समावेशी नीतियों और जमीनी वास्तविकताओं के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। अध्ययन में शामिल 25 प्रतिभागियों में केवल 6 ने माध्यमिक शिक्षा पूरी की, 2 स्नातक स्तर तक पहुँचे,

11 ने प्राथमिक स्तर के बाद पढ़ाई छोड़ दी, जबकि 6 कभी विद्यालय नहीं गए। इसका अर्थ है कि लगभग 68 प्रतिशत प्रतिभागी माध्यमिक स्तर से पहले ही शिक्षा व्यवस्था से बाहर हो गए। विद्यालयों में रैंप का अभाव, विशेष शिक्षकों की कमी, ब्रेल और सांकेतिक संसाधनों की अनुपलब्धता तथा सहपाठियों द्वारा उपहास जैसी समस्याएँ बार-बार सामने आईं। यह स्थिति ओलिवर (1996) के सामाजिक प्रतिमान को पुष्ट करती है, जिसके अनुसार समस्या व्यक्ति में नहीं, बल्कि संस्थागत संरचनाओं में निहित होती है। सुपौल के ग्रामीण विद्यालयों में समावेशी शिक्षा नीति का वास्तविक क्रियान्वयन अत्यंत सीमित है, जिसके कारण दिव्यांग बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और उनका भविष्य आरंभिक स्तर पर ही बाधित हो जाता है।

स्वास्थ्य और प्रमाणन सेवाओं तक पहुँच भी एक बड़ी संरचनात्मक चुनौती के रूप में सामने आई। अध्ययन में 25 प्रतिभागियों में से 17 के पास वैध दिव्यांग प्रमाणपत्र था, जबकि केवल 11 के पास यूडीआईडी कार्ड उपलब्ध था। 9 प्रतिभागियों ने बताया कि वे आवेदन प्रक्रिया समझ नहीं पाए, और 7 ने आर्थिक कारणों से आवेदन ही नहीं किया। सुपौल के कई गाँवों से जिला मुख्यालय की दूरी 40 से 70 किलोमीटर तक है, जिससे प्रमाणपत्र बनवाने या सहायक उपकरण प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यंत कठिन हो जाती है। एक दृष्टिबाधित प्रतिभागी ने कहा—“चार बार गया, हर बार नया कागज़ माँग लिया गया, फिर छोड़ दिया।” वेबर (1978) की नौकरशाही अवधारणा के अनुसार औपचारिक

प्रशासनिक प्रक्रियाएँ अक्सर सुविधा देने के बजाय बहिष्करण उत्पन्न करती हैं; सुपौल में यह पूरी तरह सत्य सिद्ध होती है। यहाँ प्रशासनिक प्रक्रिया की जटिलता स्वयं एक अवरोधक संरचना बन जाती है।

रोजगार और आर्थिक निर्भरता के संदर्भ में अध्ययन ने गंभीर असमानताओं को उजागर किया। 25 प्रतिभागियों में केवल 3 नियमित आय वाले कार्य में थे, 8 स्वरोजगार में लगे थे, जबकि 14 पूर्णतः परिवार या पेंशन पर निर्भर थे। इसका अर्थ है कि 56 प्रतिशत प्रतिभागी आर्थिक रूप से आश्रित हैं। कई प्रतिभागियों ने बताया कि कौशल विकास योजनाओं की जानकारी उन्हें उपलब्ध नहीं होती, और सरकारी नौकरी में आरक्षण होने के बावजूद आवेदन प्रक्रिया तथा प्रतियोगी परीक्षाओं की संरचना समावेशी नहीं है। अमर्त्य सेन (1999) के क्षमता दृष्टिकोण के अनुसार यदि व्यक्ति शिक्षा, कौशल और परिवहन तक पहुँच नहीं बना पाता, तो नीति-स्तर पर उपलब्ध अवसर भी अर्थहीन हो जाते हैं। सुपौल में दिव्यांगजनों की आर्थिक निर्भरता केवल व्यक्तिगत अक्षमता का परिणाम नहीं, बल्कि अवसरों की संरचनात्मक कमी का प्रतिफल है।

परिवार की भूमिका इस अध्ययन में द्वैत रूप में सामने आई—एक ओर वह सहारा देता है, दूसरी ओर नियंत्रण का माध्यम भी बन जाता है। विशेषकर महिला दिव्यांग प्रतिभागियों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट थी। 9 महिला प्रतिभागियों में से 7 ने कहा कि परिवार विवाह की संभावना को बहुत कम मानता है, जबकि 5 ने बताया कि उन्हें अकेले बाहर जाने की अनुमति नहीं मिलती। गारलैंड-थॉमसन (2005) के स्त्रीवादी

दिव्यांगता अध्ययन के अनुसार दिव्यांग महिलाएँ दोहरे हाशियाकरण का सामना करती हैं—एक लिंग के आधार पर, दूसरा दिव्यांगता के आधार पर। सुपौल की ग्रामीण पितृसत्तात्मक संरचना इस दोहरे बहिष्करण को और तीखा बनाती है। इस प्रकार परिवार, जो सुरक्षा का स्थान होना चाहिए, कई बार सामाजिक नियंत्रण की संरचना बन जाता है।

गैर-सरकारी संगठनों और सरकारी हस्तक्षेपों की भूमिका पूरक तो है, पर अपर्याप्त सिद्ध हुई। अध्ययन में पाया गया कि गैर-सरकारी संगठन मुख्यतः व्हीलचेयर, श्रवण यंत्र, जागरूकता शिविर और विद्यालय नामांकन तक सीमित हैं। उनके प्रतिनिधियों ने वित्तीय अनिश्चितता, सरकारी समन्वय की कमी और पंचायत स्तर पर कमजोर सहयोग को प्रमुख बाधाएँ बताया। सरकारी योजनाएँ पेंशन और प्रमाणपत्र वितरण तक तो पहुँचती हैं, किंतु मनोसामाजिक सहयोग और आजीविका पुनर्वास लगभग अनुपस्थित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान हस्तक्षेप राहत तो प्रदान करते हैं, पर संरचनात्मक परिवर्तन नहीं ला पाते। दिव्यांगजन के लिए दीर्घकालिक सशक्तिकरण हेतु योजनाओं में समन्वित और बहुस्तरीय दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

समग्र रूप से यह अध्ययन दर्शाता है कि सुपौल में दिव्यांगता एक व्यक्तिगत चिकित्सीय स्थिति नहीं, बल्कि बहुस्तरीय सामाजिक बहिष्करण का प्रश्न है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, सामाजिक जीवन और शासन—सभी स्तरों पर दिव्यांगजन संरचनात्मक बाधाओं से घिरे हुए हैं। सामाजिक प्रतिमान, क्षमता दृष्टिकोण और अधिकार-आधारित ढाँचा इस जटिल

यथार्थ को समझने के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध होते हैं। इस अध्ययन का केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि दिव्यांगजनों की मुख्य समस्या उनकी अक्षमता नहीं, बल्कि वह सामाजिक व्यवस्था है जो समावेशी नहीं है। जब तक संस्थागत ढाँचे, सामाजिक दृष्टिकोण और नीतिगत क्रियान्वयन में मूलभूत परिवर्तन नहीं होंगे, तब तक सुपौल जैसे क्षेत्रों में दिव्यांगजन समान नागरिकता और गरिमापूर्ण जीवन से वंचित रहेंगे।

सुपौल ज़िले के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दिव्यांगता का अनुभव केवल व्यक्ति की शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति से निर्धारित नहीं होता, बल्कि यह संरचनात्मक असमानता, गरीबी, ग्रामीणता, सामाजिक पूर्वाग्रह और प्रशासनिक विफलताओं के संयुक्त प्रभाव से निर्मित होता है। यहाँ दिव्यांगजन की चुनौतियाँ उनकी व्यक्तिगत अक्षमता से कहीं अधिक उन सामाजिक और संस्थागत व्यवस्थाओं से जुड़ी हैं, जो उन्हें समान अवसरों, संसाधनों और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी से वंचित करती हैं। अध्ययन में सामने आए अनुभव बताते हैं कि असुगम विद्यालय, अनुपयुक्त परिवहन, जटिल प्रमाणन प्रक्रियाएँ, सीमित स्वास्थ्य सेवाएँ और सामाजिक कलंक मिलकर दिव्यांगता को एक गहरे सामाजिक बहिष्करण में बदल देते हैं। इस प्रकार, दिव्यांगता सुपौल जैसे क्षेत्रों में केवल चिकित्सीय समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और समान नागरिकता का प्रश्न बन जाती है।

निष्कर्ष:

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सुपौल ज़िले में दिव्यांगजनों का जीवन अनुभव केवल उनकी शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति से निर्धारित नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक संरचनाओं, प्रशासनिक व्यवस्थाओं, आर्थिक संसाधनों तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के संयुक्त प्रभाव से निर्मित होता है। सुपौल जैसे सीमांत, बाढ़-प्रभावित और संसाधन-वंचित ज़िले में दिव्यांगता का प्रश्न और अधिक जटिल हो जाता है, क्योंकि यहाँ प्राकृतिक आपदाएँ, गरीबी, कमजोर आधारभूत संरचना और संस्थागत अनुपलब्धता पहले से ही जीवन को असुरक्षित बनाती हैं। अध्ययन से यह सामने आया कि दिव्यांगजन शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, परिवहन, सामाजिक सहभागिता और राजनीतिक प्रतिनिधित्व—सभी स्तरों पर बहुस्तरीय सामाजिक बहिष्करण का सामना करते हैं। इस प्रकार, दिव्यांगता यहाँ केवल व्यक्तिगत चिकित्सीय स्थिति नहीं, बल्कि संरचनात्मक असमानताओं से निर्मित सामाजिक यथार्थ है।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि भारत में दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम 2016, यूडीआईडी योजना, पेंशन योजनाएँ, समावेशी शिक्षा तथा आरक्षण जैसे नीतिगत प्रावधानों ने अधिकार-आधारित ढाँचा तो निर्मित किया है, परंतु जमीनी स्तर पर उनका प्रभाव असमान और अपूर्ण है। सुपौल में अनेक प्रतिभागियों के पास प्रमाणपत्र या यूडीआईडी कार्ड नहीं थे, और जिनके पास थे भी, वे योजनाओं का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं कर पा रहे थे। इसका मुख्य कारण प्रशासनिक जटिलताएँ, सूचना का अभाव,

डिजिटल असमानता तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सेवा संस्थानों की दूरी है। इससे स्पष्ट होता है कि नीति निर्माण और उसके वास्तविक क्रियान्वयन के बीच गंभीर अंतर बना हुआ है। कानूनी अधिकारों का अस्तित्व तभी सार्थक है, जब वे व्यवहारिक रूप में दिव्यांगजनों की पहुँच में हों।

सामाजिक दृष्टिकोण के स्तर पर भी स्थिति चुनौतीपूर्ण है। परिवार और समुदाय के भीतर दिव्यांगजनों को सहानुभूति तो मिलती है, किंतु सम्मानजनक स्वायत्तता और निर्णय लेने का अवसर प्रायः नहीं मिलता। विशेषकर दिव्यांग महिलाओं के संदर्भ में लिंग और दिव्यांगता का अंतर्संबंध उनकी वंचना को और गहरा कर देता है। स्त्रीवादी दिव्यांगता अध्ययन तथा सामाजिक बहिष्करण की अवधारणाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि दिव्यांग महिलाएँ दोहरे हाशियाकरण का सामना करती हैं—एक स्त्री होने के कारण और दूसरा दिव्यांग होने के कारण। सुपौल की ग्रामीण पितृसत्तात्मक संरचना इस स्थिति को और तीव्र बना देती है, जिससे उनका सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण सीमित रह जाता है।

यह अध्ययन यह भी रेखांकित करता है कि दिव्यांगता को चिकित्सीय प्रतिमान से समझना अपर्याप्त है। सामाजिक प्रतिमान, क्षमता दृष्टिकोण तथा अधिकार-आधारित ढाँचा दिव्यांगता के अनुभव को अधिक व्यापक और यथार्थपरक ढंग से समझने में सहायक हैं। समस्या व्यक्ति की अक्षमता नहीं, बल्कि वह सामाजिक व्यवस्था है जो सुलभ आधारभूत संरचना, समावेशी शिक्षा, गरिमापूर्ण रोजगार और सहभागी नागरिकता उपलब्ध नहीं करा पाती। सुपौल

का अनुभव यह सिद्ध करता है कि जब तक सामाजिक संरचनाओं, संस्थागत प्रक्रियाओं और सार्वजनिक अवसंरचना को समावेशी नहीं बनाया जाएगा, तब तक कानूनी अधिकार वास्तविक स्वतंत्रता में परिवर्तित नहीं हो सकेंगे।

अंततः यह कहा जा सकता है कि सुपौल ज़िले में दिव्यांगजनों का प्रश्न केवल कल्याणकारी योजनाओं का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, नागरिकता और समानता का प्रश्न है। सरकारी तथा गैर-सरकारी हस्तक्षेपों को केवल योजनाओं के वितरण तक सीमित रखने के बजाय उन्हें गरिमा-केंद्रित, विकेंद्रीकृत और सहभागितापरक मॉडल में रूपांतरित करना आवश्यक है। यदि नीति-निर्माण और क्रियान्वयन में दिव्यांगजनों के जीवन अनुभवों को केंद्र में रखा जाए, तभी समावेशन एक नीतिगत शब्द से आगे बढ़कर वास्तविक सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बन सकेगा। यही इस अध्ययन का केंद्रीय निष्कर्ष और सामाजिक संदेश है।

संदर्भ सूची:

1. भारत सरकार। (2011). *जनगणना 2011: दिव्यांगजन संबंधी आँकड़े*। भारत के महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त कार्यालय, नई दिल्ली।
2. भारत सरकार। (2016). *दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम, 2016*। भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली।
3. बिहार राज्य दिव्यांगजन आयुक्त कार्यालय। (2020). *बिहार में दिव्यांगजनों की स्थिति आकलन रिपोर्ट 2018-2020*। पटना: बिहार सरकार।
4. बोवेन, जी. ए. (2009). दस्तावेज़ विश्लेषण एक गुणात्मक अनुसंधान विधि के रूप में। *क्वालिटेटिव रिसर्च जर्नल*, 9(2), 27-40।
5. ब्राउन, वी., एवं क्लार्क, वी. (2006). मनोविज्ञान में विषयगत विश्लेषण का उपयोग। *क्वालिटेटिव रिसर्च इन साइकोलॉजी*, 3(2), 77-101।
6. डेनज़िन, एन. के., एवं लिंकन, वाई. एस. (2011). *गुणात्मक अनुसंधान की सेज पुस्तिका* (4था संस्करण)। नई दिल्ली: सेज प्रकाशन।
7. गारलैंड-थॉमसन, आर. (2005). स्त्रीवादी दिव्यांगता अध्ययन: एक परिचय। *साइन्स*, 30(2), 1557-1587।
8. गोफमैन, ई. (1963). *स्टिग्मा: क्षतिग्रस्त पहचान का प्रबंधन*। न्यू जर्सी: प्रेंटिस हॉल।
9. कबीर, एन. (2000). सामाजिक बहिष्करण, निर्धनता और भेदभाव। *आईडीएस बुलेटिन*, 31(4), 83-97।
10. कवल, एस. (1996). *साक्षात्कार: गुणात्मक शोध साक्षात्कार का परिचय*। लंदन: सेज प्रकाशन।
11. मेहरोत्रा, एन. (2011). *भारत में दिव्यांगता, लिंग और जाति का अंतर्संबंध*। नई दिल्ली: सेज प्रकाशन।
12. ओलिवर, एम. (1990). *द पॉलिटिक्स ऑफ डिसएब्लमेंट*। लंदन: मैकमिलन।

13. ओलिवर, एम. (1996). अंडरस्टैंडिंग
डिसएबिलिटी: फ्रॉम थ्योरी टू प्रैक्टिस। लंदन:
मैकमिलन।
14. सेन, अ. (1999). विकास के रूप में स्वतंत्रता।
ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
15. सेन, अ. (2000). सामाजिक बहिष्करण:
अवधारणा, प्रयोग और परीक्षण। एशियन
डेवलपमेंट रिव्यू, 16(1), 1–54।
16. संयुक्त राष्ट्र। (2006). दिव्यांग व्यक्तियों के
अधिकारों पर अभिसमय। न्यूयॉर्क: संयुक्त राष्ट्र
संगठन।
17. यूनिसेफ इंडिया। (2021). भारत में समावेशी
शिक्षा और दिव्यांगता रिपोर्ट। नई दिल्ली:
यूनिसेफ।
18. वेबर, एम. (1978). अर्थव्यवस्था और समाज।
बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।